National Journal of Multidisciplinary Research and Development
ISSN: 2455-9040
Impact Factor: RJIF 5.22
www.nationaljournals.com
Volume 3; Issue 1; January 2018; Page No. 857-859

राष्ट्रवाद : भारत के सन्दर्भ में

अमरेश कुमार सिंह
वरिष्ठ शोध छात्र, हिन्दी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

हलाँकि राष्ट्रवाद की कोई एक सार्वभौमिक परिभाषा नहीं दी जा सकती, लेकिन अगर सार रूप में कहा जाए तो राष्ट्रवाद उस सामूहिक आस्था का नाम है जहाँ लोग स्वयं को एक साझा इतिहास, परम्परा, जातीयता, संस्कृति एवं भाषा इत्यादि के आधार पर एक मानते हैं। इस प्रकार निर्मित यह 'एक होने की भावना' अन्य सभी कारकों से अधिक प्रभावशाली होती है और यहाँ तक कि राष्ट्र की निष्ठा अन्य सभी अस्मिताओं पर हावी हो जाती है।

वस्तुतः एक भौगोलिक क्षेत्र के अंदर निवास करने वाले सम्प्रदायों में कई स्तरों पर भिन्नता होती है, जैसे– धार्मिक, वर्गीय, भाषायी इत्यादि। लेकिन विभिन्न आधारों पर निर्मित हुई 'एक होने की भावना' राष्ट्रीयता की पहचान को अन्य सभी पहचानों पर आरोपित कर देती है।

अधिकांश विचारकों ने राष्ट्रवाद का विश्लेषण राजनीतिक–आर्थिक परिप्रेक्ष्य में किया है। 'अर्नेस्ट गैलनर' का मानना है कि राष्ट्रवाद मूलतः एक राजनीतिक सिद्धांत है जो राजनीतिक एवं राष्ट्रीय एकता को सुसंगत बनाए रखता है, जबकि राष्ट्र राष्ट्रवाद से उत्पन्न हुई एक आधुनिक निर्मिति है। यहाँ गैलपर एक तरह से राष्ट्र के 'गढ़े जाने' की ओर संकेत कर रहे हैं। अर्थात् राष्ट्र एक स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम नहीं है बल्कि तत्कालीन आर्थिक–राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इस तरह के समूहीकरण की अवधारणा रची गई। उनके अनुसार, औद्योगिक क्रांति के बाद भिन्न–भिन्न जगहों से आए कामगार शहरों में आकर बसने लगे, जिनके बीच अनेक स्तरों पर असमानता थी। पूंजीवाद के विकास के लिये आवश्यक था कि उत्पादन प्रक्रिया अधिक सुचारू रूप से संचालित हो। यह तभी हो सकता था जब कामगारों में परस्पर भिन्नता कम–से–कम हो तथा वे एक विशेष प्रेरणा से उत्पादन प्रक्रिया में भाग लें। भिन्नता को समाप्त करने के लिये एक साक्षा इतिहास, साझी संस्कृति तथा समान भाषा की रचना की गई। इस साझेपन ने कामगारों को 'राष्ट्रहित' में अधिक उत्पादन करने की प्रेरणा दी।

राष्ट्रवाद के संदर्भ में लगभग इसी तरह की व्याख्या मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा की जाती है। उनके अनुसार– राष्ट्रवाद का विचार पूंजीवादी व्यवस्था को ही आगे बढ़ता है। इसी संदर्भ में मार्क्स ने 'दुनिया के मजदूरों एक हो' का नारा देते हुए कहा कि मजदूरों का कोई राष्ट्र नहीं होता, उनकी समस्याएँ हर जगह एक जैसी होती हैं। अगर मार्क्सवादी मान्यता को निष्कर्ष रूप में कहें तो इसके अनुसार राष्ट्रवाद प्रभुत्वशाली वर्गों को एकजुट करके राजनीतिक समुदाय की एक भ्रामक अनुभूति पैदा करता है, जिससे 'वर्गीय हित' के ऊपर 'राष्ट्रीय अस्मिता' हावी हो जाती है। इस प्रकार, राष्ट्र के नाम पर पूंजीपति वर्ग श्रमिकों का शोषण करता है। हालाँकि यह राष्ट्रवाद की एकमात्र परिभाषा नहीं है, इस विचार को एकीकरण की एक स्वाभाविक प्रक्रिया के तहत भी देखा जाता है।

प्रसिद्ध विचारक 'बेनेडिक्ट एंडरसन' ने राष्ट्रवाद के संबंध में 'कल्पित समुदाय' (Imagined Community) की अवधारणा का प्रतिपादन किया। एंडरसन ने राष्ट्र को राजनीतिक विचारधारा के रूप में समझने की बजाय सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में समझने की बात कही। एंडरसन ने राष्ट्रवाद को चर्च के प्रभुत्व के कम होने, सामंती व्यवस्था के कमजोर होने तथा समय की अवधारणा में आए बदलाव के संदर्भ में विश्लेषित करने का प्रयास किया है। एंडरसन ने इस प्रकार निर्मित सांस्कृतिक चेतना के एक राष्ट्र में तब्दील होने के कारण के रूप में 'मुद्रण पूंजीवाद' (Print Capitalism) की पहचान की। मुद्रण प्रौद्योगिकी के विकास के साथ ही बाइबिल समेत तमाम ग्रंथ देशी भाषाओं में छपने लगे। इसके चलते वैचारिक एकीकरण को प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रीय चेतना का विकास आरम्भ हो गया। एंडरसन का मानना है कि राष्ट्रवाद एक ऐसा विचार है जिसके आधार पर वैसे लोग जो एक–दूसरे से कभी मिले भी नहीं, एक प्रकार का संबंध जोड़ लेते हैं।

राष्ट्रवाद के उपरोक्त वैचारिक विश्लेषण से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि राष्ट्र का विचार एक तरह से सामुदायिक पहचान का द्योतक है, किंतु अब प्रश्न ये है कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह सामुदायिकता की भावना विकसित कैसे हुई? संक्षेप में कहें तो पुनर्जागरण और धर्म सुधार आंदोलन के बाद अर्थात् 16वीं–17वीं सदी के बाद ही सही अर्थों में आधुनिक राज्य का उद्भव हुआ। राज्य का यह स्वरूप अपने पूर्ववर्ती राज्यों से इस अर्थ में भिन्न था कि जहाँ पहले राज्य की प्रभुसत्ता में क्षैतिज रूप से चर्च की और लंबवत् रूप से सामंतों की हिस्सेदारी होती थी, वहीं व्यापारिक क्रांति और धर्म सुधार आंदोलनों ने क्रमशः सामंतों और चर्च को प्रभुसत्ता में भागीदारी से वंचित कर दिया। अब सत्ता केवल एक राजा के अधीन केंद्रीकृत और अविभाजित थी। हालाँकि अब तक वह व्यापारिक मध्य वर्ग भी सशक्त होकर उभर चुका था, जिसने व्यापारिक क्रांति और धर्म सुधार आंदोलनों का संचालन किया था। इस वर्ग का अपने अधिकारों के लिये राजतंत्र पर पर्याप्त दबाव था। इसलिये आगे राष्ट्रवाद की दिशा और उसका स्वरूप क्या होगा, इसका निर्धारण यही वर्ग करने वाला था।

यह वही दौर था जब राजतंत्र और संसद के बीच स्पष्ट मतभेद उभरकर सामने आया जिसकी अभिव्यक्ति 1688 की इंग्लैंड की गौरवपूर्ण क्रांति के माध्यम से हुई, जिसके परिणामस्वरूप एक निरंकुश राजतंत्र के स्थान पर संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई। फिर भी राष्ट्रवाद की प्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति 1789 में फ्राँसीसी क्रांति के साथ ही मानी जा सकती है। इस क्रांति से जो राजनीतिक और संवैधानिक बदलाव हुए उनसे प्रभुसत्ता राजतंत्र के हाथों से निकलकर नागरिकों के समूहों में हस्तांतरित हो गई। क्रांति में उद्घोषित 'स्वतंत्रता' और 'भ्रातृत्व' ऐसे विचार थे जिन्होंने फ्राँसीसी लोगों में 'व्यापक एकता' की भावना का प्रसार किया और एक समान इच्छा और संकल्प लेकर वे महान कार्य करने की दिशा

में अग्रसर हुए। आगे नेपोलियन के काल में प्रजातंत्र के विचार को तो नुकसान पहुँचा किंतु राष्ट्रवाद की भावना को और भी अधिक बल मिला। हालाँकि इसके बाद 1815 के वियना कांग्रेस ने पुराने यूरोपीय राजवंशों को पुनः स्थापित कर राष्ट्रवाद की भावना को दबाने की भरपूर कोशिश की, लेकिन अब यूरोप ऐसे दौर में प्रवेश कर चुका था, जहाँ से उसे वापस क्रांति से पहले वाली अवस्था में लौटाना किसी के लिये संभव न था। अब यूरोप क्रांतियों के एक ऐसे दौर में प्रवेश कर चुका था, जिसकी अंतिम अभिव्यक्ति जर्मनी और इटली के एकीकरण के रूप में होने वाली थी। इस प्रकार, 1870–71 में हुए इटली और जर्मनी के एकीकरण का आधार समान पहचान और साझे उद्देश्यों की पूर्ति था।

राष्ट्रवाद की सामान्य अवधारणा से इतर देखें तो भरत व पश्चिम के राष्ट्र संबंधी विचारों में कुछ मौलिक अंतर हैं। ये अंतर दोनों जगहों की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में व्याप्त स्वरूपगत भिन्नता के कारण उत्पन्न हुए हैं। राष्ट्र के संबंध में भारत और पश्चिम के विचारों में सबसे मौलिक अंतर यह है कि अपने विकासक्रम के दौरान पश्चिम की राष्ट्र संबंधी अवधारणा एकसमान भाषा, धर्म, नस्ल इत्यादि के आधार पर विकसित हुई, जबकि एक राष्ट्र के रूप में भारत अपनी विविध भाषाओं, अनेक धर्मों और भिन्न–भिन्न जातीयताओ का एक समुच्चय है। अर्थात् भारत ने राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट अवधारणा विकसित की जिसमें बहुजातीयता, धर्मनिरपेक्षता और सहिष्णुता जैसे मूल्य सहज ही भारतीय राष्ट्रवाद के अंग बन गए।

इसी मूलभूत अंतर की वजह से ही पश्चिमी विचारक भारत को एक राष्ट्र के रूप में संशय से देखते हैं। ब्रिटिश इतिहासकार जॉन स्ट्रेची ने तो यहाँ तक कहा कि 'पंजाब और बंगाल की तुलना में स्पेन और स्कॉटलैण्ड अधिक निकट है। दरअसल, एकीकृत राष्ट्र की जो छवि वेस्टफेलिया की संधि, ब्रिटिश एवं फ्राँसीसी प्रभुत्व की स्थापना और बिस्मार्क द्वार ानिर्मित जर्मनी के राष्ट्र–राज्य जैसे कारकों से निर्मित होती है, वह भारतीय राष्ट्र की अवधारणा के बिल्कुल विपरीत है। फिर, यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था ममें हमेशा से यह कोशिश की गई कि राष्ट्र–राज्य का निर्माण इसी एकीकृत राष्ट्र की संकल्पना के आधार पर हो। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जब राज्यों का सीमा–निर्धारण हो रहा था तो इस बात का ध्यान रखा जा रहा था कि एकीकृत राष्ट्र को आधार बनाकर ही सीमांकन हो, किन्तु फिर भी पूर्वी यूरोप में बनाए गए राष्ट्र अपने स्वरूप में बहुभाषी और बहुनस्ली रह ही गए। सबसे बढ़कर, साम्यवादी 'सोवियत संघ' के विघटन में भी राष्ट्रवाद एक बड़ा कारण रहा, फलस्वरूप कई नए राष्ट्र–राज्य अस्तित्व में आ गए। राष्ट्र–राज्य बनने की यह प्रक्रिया अभी भी चल रही है। इन्हीं अनुभवों की वजह से कुछ सिद्धांतकार भारत के एक राष्ट्र के रूप में बने रहने पर संदेह व्यक्त करते हैं। उनका मानना है कि अनेक राष्ट्रीयताओं के समुच्चय वाला भारत एक दिन अनेक राष्ट्र–राज्यों में विखंडित हो जाएगा।

''दरअसल, जब राष्ट्र की अवधारणा समान नस्ल, भाषा इत्यादि पर टिकी होती है, तब अपने उग्र रूप में वह अपने से भिन्न पहचान वालों के साथ हिंसक व्यवहार तक को उचित ठहराती है। उदाहरण के लिये, हिटलर ने आर्य नस्ल की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये लाखों की संख्या में यहूदियों की हत्या करवा दी। इसके अतिरिक्त, जैसा कि 'एरिक हाब्सबॉम' कहते हैं कि राष्ट्रवाद ऊपर से आरोपित किया गया विचार है, इसके चलते अन्य पृथक् स्वर द जाते हैं।''

दरअसल, ऐसे सिद्धांतकारों का यह संदेह भारतीय राष्ट्र के विशिष्ट स्वरूप को स्वीकार न कर पाने के कारण है। भारतीय राष्ट्र के संदर्भ में फ्राँसीसी दार्शनिक 'अर्न्स्ट रेनन' का विचार अधिक सुसंगत है। रेनन ने अपने निबंध 'राष्ट्र क्या है'? (Qu'est-ce qu'une nation?) में इस बात की आलोचना की कि राष्ट्र समान भाषा, नस्ल, धर्म या क्षेत्र से बनता है। रेनन के अनुसार– राष्ट्र लंबे प्रयासों, त्याग और निष्ठा का चरम बिन्दु होता है। राष्ट्र को परिभाषित करते हुए रेनन ने कहा कि ''अतीत में समान गौरव का होना, वर्तमान में एकसमान इच्छा संकल्प का होना, साथ मिलकर काम करना और आगे भी ऐसे काम करते रहने की इच्छा रखना एक जनसमूह होने की आवश्यक शर्ते हैं।'' रेनन के राष्ट्र के संदर्भ में विचार को सार रूप में कहें, तो वे किसी एक भाषा, नस्ल, धर्म के आधिपत्य पर आधारित राष्ट्र की बजाय सबकी सहमति से निर्मित राष्ट्र को वैधता प्रदान करते हैं। भारत का राष्ट्र भी अपने आदर्श रूप में इसी मूल्य के निकट है। हाँ, यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि यह अपने आदर्श से कितनी सभ्यता रखता है?

यद्यपि राष्ट्रवाद एक प्रकार के समूहीकरण पर बल देता है तथा लोगों को एकसमान अस्मिता प्रदान करने की कोशिश करता है, किन्तु यह विचार उस समय अशांति का कारण भी बन जाता है, जब कोई समूह अपनी पृथक् पहचान के आधार पर एक निश्चित भूगोल प्राप्त करना चाहता है या फिर राष्ट्रवाद के विभिन्न तत्त्वों, यथा–इतिहास, धर्म, नस्ल, भाषा (कुछ परिस्थितियों में अर्थ) में से किसी आधार पर कोई समूह उग्र हो जाता है। गौरतलब है कि अब तक हुए दोनों विश्वयुद्धों में राष्ट्रवाद की बड़ी भूमिका थी। इसी संदर्भ में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने राष्ट्रवाद की आलोचना की थी। उनका मानना था कि अपने प्राकृतिक रूप में मानव समाज 'सह–अस्तित्व की भावना' (Spirit of Symbiotic Existence) पर आधारित होता है लेकिन राष्ट्र का विचार मानव समाज को विभिन्न समूहों में बाँटकर परस्पर प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा देता है। इसी आलोक में उन्होंने राष्ट्र के विचार का विरोध करते हुए यहाँ तक कह दिया कि– ''मैं इस राष्ट्र या उस राष्ट्र के खिलाफ नहीं हूँ बल्कि राष्ट्र के विार के ही खिलाफ हूँ।''

राष्ट्रवाद पर दूसरा आक्षेप यह लगता है कि यह समरूपीकरण को प्रोत्साहन देकर बहुसंस्कृतिवाद के मूल्य पर चोट करता है। दरअसल, जब राष्ट्र की अवधारणा समान नस्ल, भाषा इत्यादि पर टिकी होती है, तब अपने उग्र रूप में वह अपने से भिन्न पहचान वालों के साथ हिंसक व्यवहार तक को उचित ठहराती है। उदाहरण के लिये हिटलर ने आर्य नस्ल की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये लाखों की संख्या में यहूदियों की हत्या कर दी। इसके अतिरिक्त, जैसा कि 'एरिक हाब्सबॉम' कहते हैं कि राष्ट्रवाद ऊपर से आरोपित किया गया विचार है, इसके चलते अन्य पृथक् स्वर दब जाते हैं।

मार्क्सवादी आलोचक राष्ट्रवाद पर यह आरोप लगाते हैं कि यह पूंजीवाद को बढ़ावा देने वाली अवधारणा है। यह व्यक्तिगत पहचान के ऊपर राष्ट्रीय पहचान को और वर्गीय हित के ऊपर राष्ट्रीय हित को आरोपित करती है। अतः पूंजीपति वर्ग अपने हित को राष्ट्रीय हित के रूप में प्रस्तुत करता है, जिससे बहुसंख्यक हित की उपेक्षा होती है। इसी संदर्भ में रघुवीर सहाय ने लिखा है कि–

''राष्ट्रगीत में भला कौन वह
भारत भाग्य विधाता है
फटा सुथन्ना पहने जिसका
गुन हरचरना गाता है''

नारीवादी विचारक भी राष्ट्रवाद को स्त्री विमुक्ति की राह में अवरोध की तरह देखते हैं। उनका मानना है कि राष्ट्रवाद को जिस पौरूष–पराक्रम के साथ जोड़ा जाता है वहाँ राष्ट्र को भी स्त्री की तरह ही 'असुरक्षित' माना जाता है और उसकी रक्षा का भार पुरूषों पर होता है। इस प्रकार, इस विचार में महिलाओं का स्थान गौण

हो जाता है। साथ ही, नारीवादी चिंतकों का यह भी मानना है कि राष्ट्र को एक 'स्वाभाविक निर्मिति' के रूप में स्थापित करने के लिये परिवार के रूपक का इस्तेमाल किया गया। इस प्रकार, जब राष्ट्र को परिवार की तरह ही स्वाभाविक मान लिया जाता है, तो फिर वह बदले में स्त्रियों और बच्चों की अधीनस्थता की बुनियाद पर टिकी परिवार संस्था के निरंतर वैधीकरण का शक्तिशाली स्रोत बन जाता है।

हालाँकि, ऐसा भी नहीं है कि राष्ट्रवाद के सिर्फ नकारात्मक परिणाम ही रहे हैं। एक विचार के रूप में राष्ट्रवाद मूलतः लोगों को जोड़ने का काम करता है, जिसके चलते कई प्रकार के आंतरिक संघर्ष स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। इस रूप में राष्ट्रवाद का विचार मानवता के अधिक निकट प्रतीत होता है। इसका सकारात्मक स्वरूप तब और ज्यादा उभरकर सामने आता है, जब राष्ट्रवाद की 'सामुदायिक पहचान' एकजुट होकर किसी शोषणकारी सत्ता के विरूद्ध संघर्ष करती है।

संदर्भ

1. एस0 सेठ (1995) मार्क्सिस्ट थियरी ऐंड नैशनललिस्ट पालिटिक्स, सेज, नयी दिल्ली।
2. राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पादक), पॉलिटिकल थियरी : सेन इंट्रोडक्क्शन, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली।
3. Miller 1995, पृ0 160.
4. सत्य के प्रयोग, महात्मा गांधी।
5. राष्ट्रवाद, भारतीय सन्दर्भ में, प्रमोद शर्मा।